सामधेनी

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

उदयाचल, पटना

प्रकाशक

उदयाचल, पटना

मूल्य २॥)

द्वितीय संस्करण

दीपावली, १९४९ ई०

मुद्रक

श्री हजारीलाल शर्मा

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०,

३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट,

कलकत्ता - ७

दो शब्द

"सामधेनी" में मेरी इधर कई वर्षों की कुछ स्फुट कविताएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह की "कलिंग-विजय" नाम्नी कविता, "कुरुक्षेत्र" की पूर्व-पीठिका के रूप में लिखी गई थी। किन्तु "कुरुक्षेत्र" के साथ वह, कुछ स्पष्ट कारणों से ही, नहीं जा सकी। अब वह वर्तमान संग्रह में प्रकाशित हो रही है। आशा है कि जिन पाठकों के पास ये दोनों पुस्तकें मौजूद हों, वे 'कलिंग-विजय' और "कुरुक्षेत्र" को साथ मिला कर पढ़ेंगे। "अन्तिम मनुष्य" कविता की प्रेरणा मैथ्यू प्रायर नामक एक अर्द्ध-विस्मृत प्राचीन कवि की "एज ऐडम सॉ इट्स् मॉर्न" नामक पंक्ति से मिली थी। अतएव, उनकी आत्मा के प्रति इतना ऋण ज्ञापित कर देना योग्य है। जिन कविताओं के पीछे किसी राजनैतिक चेतना अथवा घटना का प्रभाव है, उनके नीचे दिये हुए रचना-काल को देखने से वह प्रभाव, प्रायः स्पष्ट मालूम पड़ेगा। और कोई रचना, शायद, ऐसी नहीं है जिसका कोई विशेष इतिहास कहना पड़े।

—दिनकर

समर्पण

साहित्य-शिल्पी श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के योग्य

है कुमुद फूलते जहाँ, धन्य वह विधुमण्डल,
दिन के प्रदाह से बचे किन्तु, किस भाँति कमल ?
विधु पर आ जाउँ मिले अगर आधार एक,
आत्मा के शिल्पी ! बढ़ा किरण का तार एक ।

स्नेहाधीन
दिनकर

विषय-सूची



सामधेनी

१

अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला।

(१)

रुक्ष दोनों के बाह्य स्वरूप,
दृश्य - पट दोनों के श्रीहीन ;
देखते एक तुम्हीं वह रूप
जो कि दोनों में व्याप्त, विलीन,

ब्रह्म में जीव, वारि में बूँद,
जलद में जैसे अगणित चित्र।

(२)

ग्रहण करती निज सत्य-स्वरूप
तुम्हारे स्पर्शमात्र से धूल,
कभी बन जाती घट साकार,
कभी रंजित, सुवासमय फूल।

और यह शिला-खण्ड निर्जीव,
शाप से पाता-सा उद्धार,
शिल्पि, हो जाता पाकर स्पर्श
एक पल में प्रतिमा साकार।

तुम्हारी साँसों का यह खेल,
जलद में बनते अगणित चित्र।

(३)

मृत्ति, प्रस्तर, मेघों का पुञ्ज
लिये मैं देख रहा हूँ राह,
कि शिल्पी आयेगा इस ओर
पूर्ण करने कब मेरी चाह।

खिलेंगे किस दिन मेरे फूल?
प्रकट होगी कब मूर्त्ति पवित्र?
और मेरे नभ में किस रोज
जलद विहरेंगे बनकर चित्र?

शिल्पि, जो मुझ में व्याप्त, विलीन,
किरण वह कब होगी साकार?

२

(१)

तिमिर में स्वर के बाले दीप, आज फिर आता है कोई।

'हवा में कब तक ठहरी हुई
रहेगी जलती हुई मशाल ?
थकी तेरी मुट्ठी यदि वीर,
सकेगा इसको कौन सँभाल ?'

अनल-गिरि पर से मुझे पुकार, राग यह गाता है कोई।

हलाहल का दुर्जय विस्फोट,
भरा अंगारों से तूफान,
दहकता-जलता हुआ खगोल,
कड़कता हुआ दीप्त अभिमान।

निकट ही कहीं प्रलय का स्वप्न, मुझे दिखलाता है कोई।

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल, यजमान अधीर ;
पुरोधा-कवि कोई है यहाँ ?
देश को दे ज्वाला के तीर।

धुओं में किसी वह्नि का आज निमन्त्रण लाता है कोई।

१९४४]

३

(१)

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !

तब क्यों बाँध रखा कारा में ?
कूद अभय उत्तुङ्ग शृङ्ग से
बहने दिया नहीं धारा में।
लहरों को खा चोट गरजता;
कभी शिलाओं से टकराकर
अहङ्कार प्राणों का बजता।

चट्टानों के मर्म-देश पर बजता नाद तुम्हारा ;
जनाकीर्ण संसार श्रवण करता संवाद तुम्हारा।
भूल गये आग्नेय ! तुम्हारा अहङ्कार था मैं ही ;
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही।

(२)

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !

तब क्यों दह्यमान यह जीवन
चढ़ न सका मन्दिर में अबतक
बन सहस्र वर्त्तिक नीराजन ?
देख रहा मैं वेदि तुम्हारी,
कुछ टिमटिम, कुछ-कुछ अंधियारी।

और इधर निर्जन अरण्य में
उद्भासित हो रहीं दिशाएँ ;
जीवन दीप्त जला जाता है ;
ये देखो निर्धूम शिखाएँ।

मुझ में जो मर रही, जगत में कहाँ भारती वैसी ?
जो अवमानित शिखा, किसी की कहाँ आरती वैसी ?
भूल गये देवता, कि यज्ञिय गन्धसार था मैं ही,
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही।

(३)

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !

तब क्यों इस जम्बाल-जाल में
मुझे फेंक मुसकाते हो तुम ?

मैं क्या हसता नहीं देवता,
पूजा का बन सुमन थाल में ?

मेरी प्रखर मरीचि देखती
उठा सान्द्र तम का अवगुण्ठन ;
देती खोल अदृष्ट-ग्रन्थि,
संसृति का गूढ़ रहस्य पुरातन ।

थकी बुद्धि को पीछे तजकर
मैं श्रद्धा का दीप जलाता,
बहुत दूर चलकर धरती के
हित पीयूष-कलश ले आता ;

लाता वे स्वर जो कि शब्दगुण
अम्बर के उर में हैं संचित ;
गाता वे संदेश कि जिन से
स्वर्ग-मर्त्य, दोनों, हैं वंचित ।

कर में उज्ज्वल शंख, स्कन्ध पर
लिये तुम्हारी विजय-पताका,
अमृत-कलश-वाही धरणी का,
दूत तुम्हारी अमर विभा का ।

चलता मैं फूंकते मलीमस पापों पर चिनगारी,
सुन उद्बोधन-नाद नींद से जग उठते नर-नारी ।
भूल गये देवता, उदय का महोच्चार था मैं ही,
स्वभू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही ।

४

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है ;
थककर बैठ गये क्या भाई ! मंजिल दूर नहीं है ।

(१)

चिनगारी बन गई लहू की
बूँद गिरी जो पग से ;
चमक रहे, पीछे मुड़ देखो,
चरण - चिह्न जगमग - से ।
शुरू हुई आराध्य-भूमि यह,
क्लान्ति नहीं रे राही ;
और नहीं तो पाँव लगे हैं
क्यों पड़ने डगमग - से ?

बाकी होश तभी तक, जब तक जलता तूर नहीं है ;
थककर बैठ गये क्या भाई ! मंजिल दूर नहीं है ।

(२)

अपनी हड्डी की मशाल से
हृदय चीरते तम का,
सारी रात चले तुम दुख
झेलते कुलिश निर्मम का।

एक खेय है शेष किसी विधि
पार उसे कर जाओ;
वह देखो, उस पार चमकता
है मन्दिर प्रियतम का।

आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है,
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

(३)

दिशा दीप्त हो उठी प्राप्तकर
पुण्य—प्रकाश तुम्हारा,
लिखा जा चुका अनल-अक्षरों
में इतिहास तुम्हारा।
जिस मिट्टी ने लहू पिया,
वह फूल खिलायेगी ही,
अम्बर पर घन बन छायेगा
ही उच्छ्वास तुम्हारा।

और अधिक ले जाँच, देवता इतना क्रूर नहीं है।
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

१९४३]

५

बटोही, धीरे-धीरे गा।

बोल रही जो आग उबल तेरे दर्दीले सुर में,
कुछ वैसी ही शिखा एक सोई है मेरे उर में।
जलती बत्ती छुला, न यह निर्वापित दीप जला।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

फुँकी जा रही रात, दाह से झुलस रहे सब तारे,
फूल नहीं, लय से पड़ते हैं झड़े तप्त अंगारे।
मन की शिखा सँभाल, न यों दुनिया में आग लगा।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

दगा दे गया भाग ? कि कोई बिछुड़ गया है अपना ?
मनसूबे जल गये ? कि कोई टूट गया है सपना ?
किसी निठुर, निर्मोही के हाथों या गया छला ?

बटोही, धीरे-धीरे गा।

करुणा का आवेग ? कि तेरा हृदय कढ़ा आता है ?
लगता है, स्वर के भीतर से प्रलय बढ़ा आता है ?
आहों से फूँकने जगत-भर का क्यों हृदय चला ?

बटोही, धीरे-धीरे गा।

अनगिनती सूखी आँखों से झरने होंगे जारी,
टूटेंगी पपड़ियाँ हृदय की, फूटेगी चिनगारी।
दुखियों का जीवन कुरेदना भी है पाप बड़ा।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

नेह लगाने का जग में परिणाम यही होता है,
एक भूल के लिए आदमी जीवन-भर रोता है।
अश्रु पोंछनेवाला जग में विरले को मिलता।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

एक भेद है, सुन मतवाले, दर्द न खोल कहीं जा,
मन में मन की आह पचाले, जहर खुशी से पी जा।
व्यंजित होगी व्यथा, गीत में खुद मत कभी समा।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

१९४४]

६

रात यों कहने लगा मुझ से गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है!
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता, न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते ;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न? है वह बुलबुला जल का ;
आज उठता और कल फिर फूट जाता है ;
किन्तु, फिर भी धन्य ; ठहरा आदमी ही तो?
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।

मैं न बोला, किन्तु, मेरी रागिनी बोली,
देख फिर से, चाँद! मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं? है यही पानी?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है,
वाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिये, जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

१९४६]

७

जा रही देवता से मिलने ?
तो इतनी कृपा किये जाओ।
अपनी फूलों की डाली में
दर्पण यह एक लिये जाओ।

आरती, फूल, फल से प्रसन्न
जैसे हों, पहले, कर लेना,
जब हाल धरित्री का पूछें,
सम्मुख दर्पण यह धर देना।

बिम्बित है इसमें पुरुष पुरातन
के मानस का घोर भँवर;
है नाच रही पृथ्वी इसमें,
है नाच रहा इसमें अम्बर।

यह स्वयं दिखायेगा उनको
छाया मिट्टी की चाहों की,
अम्बर की घोर विकलता की,
धरती के आकुल दाहों की।

ढहती मीनारों की छाया,
गिरती दीवारों की छाया,
बेमौत हवा के झोंके में
मरती झंकारों की छाया,

छाया, छाया - ब्रह्माणी की
जो गीतों का शव ढोती है—
भुज में वीणा की लाश लिये
आतप से बचकर सोती है।

झाँकी उस भीत पवन की जो
तूफानों से है डरा हुआ—
उस जीर्ण खमंडल की जिसमें
आतंक-रोर है भरा हुआ।

हिलती वसुंधरा की झाँकी,
बुझती परम्परा की झाँकी;
अपने में सिमटी हुई, पलित
विद्या अनुर्वरा की झाँकी।

झाँकी उस नई परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी ;
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी-सी।

छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है।
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है।

१९४६]

अन्तिम मनुष्य

सारी दुनिया उजड़ चुकी है,
    गुजर चुका है मेला;
ऊपर है बीमार सूर्य,
    नीचे मैं मनुज अकेला।

बाल-उमंगों से देखा था
    मनु ने जिसे उभरते,
आज देखना मुझे बदा था
    उसी सृष्टि को मरते।

वृद्ध सूर्य की आँखों पर
    माँड़ी-सी चढ़ी हुई है,
दम तोड़ती हुई बुढ़िया-सी
    दुनिया पड़ी हुई है।

कहीं-कहीं गढ़, ग्राम, बगीचों
का है शेष नमूना,
चारों ओर महा मरघट है,
सब है सूना—सूना ।

कौमों के कंकाल झुण्ड के
झुण्ड, अनेक पड़े हैं;
ठौर-ठौर पर जीव-जन्तु के
अस्थि-पुंज बिखरे हैं ।

घर में सारे गृही गये मर,
पथ में सारे राही,
रण के रोगी जूझ मरे
खेतों में सभी सिपाही ।

कहीं आग से, कहीं महामारी से,
कहीं कलह से,
गरज कि पूरी उजड़ चुकी है
दुनिया सभी तरह से ।

अब तो कहीं नहीं जीवन की
आहट भी आती है;
हवा दमे की मारी कुछ
चलकर ही थक जाती है ।

किरण सूर्य की क्षीण हुई
जाती है बस दो पल में,
दुनिया की आखिरी रात
छा जायेगी भूतल में।

कोटि-कोटि वर्षों का क्रममय
जीवन खो जायेगा,
मनु का वंश बुझेगा,
अन्तिम मानव सो जायेगा।

आह सूर्य? हम-तुम जुड़वे
थे निकले साथ तिमिर से,
होंगे आज विलीन साथ ही
अन्धकार में फिर से।

सच है, किया निशा ने मानव
का आधा मन काला,
पर, आधे पर सदा तुम्हारा
ही चमका उजियाला।

हम में अगणित देव हुए थे,
अगणित हुए दनुज भी,
सब कुछ मिला-जुलाकर लेकिन,
हम थे सदा मनुज ही।

हत्या भी की और दूसरों
के हित स्वयं मरे भी,
सच है, किया पाप, लेकिन,
प्रभु से हम सदा डरे भी।

तब भी स्वर्ग कहा करता था
"धरती बड़ी मलिन है,
मर्त्य-लोक-वासी मनुजों की
जाति बड़ी निर्घिन है।"

निर्घिन थे हम क्योंकि राग से
था संघर्ष हमारा,
पलता था पंचाग्नि-बीच
व्याकुल आदर्श हमारा।

हाय, प्राण ही नहीं, तुझे यदि
होता मांस-लहू भी,
ओ स्वर्वासी अमर! मनुज-सा
निर्घिन होता तू भी,

काश, जानता तू कितना
धमनी का लहू गरम है,
चर्म-तृषा दुर्जेय, स्पर्श-सुख
कितना मधुर नरम है।

ज्वलित पिण्ड को हृदय समझकर
  ताप सदा सहते थे,
पिघली हुई आग थी नस में,
  हम लोहू कहते थे।

मिट्टी नहीं, आग का पुतला,
  मानव कहाँ मलिन था?
ज्वाला से लड़नेवाला यह
  वीर कहाँ निर्घिन था?

हम में बसी आग यह छिपती
  फिरती थी नस-नस में,
वशीभूत थी कभी, कभी
  हम ही थे उसके बस में।

वह संगिनी शिखा भी होगी
  मुझ से आज किनारा,
नाचेगी फिर नहीं लहू में
  गलित अग्नि की धारा।

अन्धकार के महागर्त्त में
  सब कुछ सो जायेगा,
सदियों का इतिवृत्त अभी
  क्षण भर में खो जायेगा।

लोभ, क्रोध, प्रतिशोध, कलह की
लज्जा-भरी कहानी,
पाप-पंक धोने वाला
आँखों का खारा पानी,

अगणित आविष्कार प्रकृति के
रूप जीतने वाले,
समरों की असंख्य गाथाएँ,
नर के शौर्य निराले,

संयम, नियम, विरति मानव की,
तप की ऊर्ध्व शिखाएँ,
उन्नति और विकास, विजय की
क्रमिक स्पष्ट रेखाएँ,

होंगे सभी विलीन तिमिर में, हाय,
अभी दो पल में,
दुनिया की आखिरी रात
छा जायेगी भूतल में।

डूब गया लो सूर्य; गई मुँद
केवल—आँख भुवन की;
किरण साथ ही चली गई
अन्तिम आशा जीवन की।

सब कुछ गया ; महा मरघट में
मैं हूँ खड़ा अकेला,
या तो चारों ओर तिमिर है,
या मुर्दों का मेला।

लेकिन, अन्तिम मनुज प्रलय से
अब भी नहीं डरा है,
एक अमर विश्वास ज्योति-सा
उस में अभी भरा है।

आज तिमिर के महागर्त्त में
वह विश्वास जलेगा,
खुद प्रशस्त होगा पथ, निर्भय
मनु का पुत्र चलेगा।

निरावरण हो जो त्रिभुवन में
जीवन फैलाता है,
वही देवता आज मरण में
छिपा हुआ आता है।

देव, तुम्हारे रुद्र रूप से
निखिल विश्व डरता है,
विश्वासी नर एक शेष है
जो स्वागत करता है।

आओ खोले जटा-जाल,
जिह्वा लेलिह्य पसारे,
अनल-विशिख-तूणीर सँभाले,
धनुष ध्वंस का धारे।

'जय हो', जिनके कर-स्पर्श से
आदि पुरुष थे जागे,
सोयेगा अन्तिम मानव भी,
आज उन्हीं के आगे।

१९४२]

हे मेरे स्वदेश !

छिप जाऊँ कहाँ तुम्हें लेकर ?
इस विष का क्या उपचार करूँ ?
प्यारे स्वदेश ! खाली आऊँ ?
या हाथों में तलवार धरूँ ?

पर, हाय, गीत के खड्ग !
धार उनकी भी आज नहीं चलती,
जानती जहर का जो उतार,
मुझ में वह शिखा नहीं जलती।

विश्वास काँपता है रह-रह,
चेतना न थिर रह पाती है !
लपटों में सपनों को समेट
यह वायु उड़ाये जाती है।

चीखूँ किस का ले नाम ? कहीं
अपना कोई तो पास नहीं;
धरती यह आज नहीं अपनी,
अपना लगता आकाश नहीं।

बाहर है धुआँ कराल, गरल का
भीतर स्रोत उबलता है,
यह हविस् नहीं, है विघ्न-पिण्ड
जो आज कुण्ड में जलता है।

भीतर-बाहर, सब ठौर गरल,
देवता ! कहाँ ले जाऊँ मैं ?
इस पूति-गन्ध, इस कुटिल दाह
से तुम को कहाँ छिपाऊँ मैं ?

यह विकट त्रास, ! यह कोलाहल !
इस वन से मन उकताता है;
भेड़िये ठठाकर हँसते हैं,
मनु का बेटा चिल्लाता है।

यह लपट ! और यह दाह ! अरे !
क्या अमृत नहीं कुछ बाकी है ?
भारत पुकारता है, गंगाजल
क्या न कहीं कुछ बाकी है ?

देवता तुम्हारा मरता है,
हो कहाँ ध्यान करनेवालो ?
इस मन्दिर की हर ईंट-तले
अपना शोणित धरनेवालो !

छप्पर को फाड़ धुआँ निकला,
जल सींचो, सुधा निकट लाओ !
किस्मत स्वदेश की जलती है,
दौड़ो ! दौड़ो ! आओ ! आओ !

नारी-नर जलते साथ, हाय !
जलते हैं मांस-रुधिर अपने ;
जलती है वर्षों की उमंग,
जलते हैं सदियों के सपने !

ओ बदनसीब ! इस ज्वाला में
आदर्श तुम्हारा जलता है,
समझायें कैसे तुम्हें कि
भारतवर्ष तुम्हारा जलता है ?

हिन्दू-मुसलमान,
भारत की आँखें जलती हैं,
आनेवाली आजादी की
लो ! दोनों पाँखें जलती हैं ।

ये छुरे नहीं चलते, छिदती
जाती स्वदेश की छाती है,
लाठी खाकर भारतमाता
बेहोश हुई-सी जाती है।

चाहो तो डालो मार इसे,
पर, याद रहे, पछताओगे;
जो आज लड़ाई हार गये,
फिर जीत न उसको पाओगे।

आदर्श अगर जल खाक हुआ,
कुछ भी न शेष रह पायेगा;
मन्दिर के पास पहुँचकर भी
भारत खाली फिर जायेगा।

* * *

हिलती है पाँवों-तले धरा?
तो थामो, इसको अचल करो,
आकाश नाचता है सम्मुख?
दृग में त्राटक-साधना भरो।

साँसों से बाँधो महाकाश,
मारुतपति नाम तुम्हारा है;
नाचती मही को थिर करना
योगेश्वर! काम तुम्हारा है।

धीरज धर ! धीरज, महासिन्धु !
मत वेग खोल अपने बल का ;
सह कौन सकेगा तेज, कहीं
विस्फोट हुआ बड़वानल का ?

नगराज ! कहीं तू डोल उठा,
फिर कौन अचल रह पायेगा ?
धरती ही नहीं, खमण्डल भी
यह दो टुकड़े हो जायेगा।

सच है, गिरती जब गाज कठिन,
भूधर का उर फट जाता है,
जब चक्र घूमता है, मस्तक
शिशुपालों का कट जाता है।

सच है, जल उठते महल,
बिखेरे जब अंगारे जाते हैं ;
औ' मचकर रहता कुरुक्षेत्र
जब चीर उतारे जाते हैं।

सम्मुख है राजसभा लेकिन,
प्रस्ताव अभी तक बाकी है ;
केशव को लगना, स्यात्,
आखिरी घाव अभी तक बाकी है।

आदर्श दुहाई देता है,
धीरज की बाँध नहीं टूटे।
आदर्श दुहाई देता है,
धन्वा से बाण नहीं छूटे।

सपने जल जायँ,
सावधान! ऐसी कोई भी बात न हो,
आदर्श दुहाई देता है,
उसके तन पर आघात न हो।

आदर्श माँगता सुधा आज,
आदर्श माँगता शीतल जल;
ओ एक राष्ट्र के विश्वासी,
आदर्श माँगता भाव अचल।

आदर्श माँगता मुक्त पन्थ,
वह कोलाहल में जायेगा;
लपटों से घिरे महल में से
जीवित स्वदेश को लायेगा।

विश्वासी बन तुम खड़े रहो,
कंचन की आज समीक्षा है;
यह और किसी की नहीं, स्वयं
सीता की अग्नि-परीक्षा है।

दुनिया भी देखे अन्धकार की
कैसी फौज उमड़ती है!
औ एक अकेली किरण
व्यूह में जाकर कैसे लड़ती है। *

१९४६

---

* नोआखाली और बिहार के दंगे के समय लिखित।

अतीत के द्वार पर

'जय हो', खोलो अजिर-द्वार
मेरे अतीत ओ अभिमानी!
बाहर खड़ी लिये नीराजन
कब से भावों की रानी!

बहुत बार भग्नावशेष पर
अक्षत-फूल बिखेर चुकी;
खँडहर में आरती जलाकर
रो—रो तुमको टेर चुकी।

वर्तमान का आज निमंत्रण,
देह धरो, आगे आओ;
ग्रहण करो आकार देवता!
यह पूजा-प्रसाद पाओ।

शिला नहीं, चैतन्य मूर्त्ति पर
तिलक लगाने मैं आई ;
वर्तमान की समर - दूतिका,
तुम्हें जगाने मैं आई।

कह दो निज अस्तमित विभा से,
तम का हृदय विदीर्ण करे ;
होकर उदित पुनः वसुधा पर
स्वर्ण - मरीचि प्रकीर्ण करे।

अंकित है इतिहास पत्थरों
पर जिनके अभियानों का,
चरण - चरण पर चिह्न यहाँ
मिलता जिनके वलिदानों का ;

गुंजित जिनके विजय - नाद से
हवा आज भी बोल रही ;
जिनके पदाघात से कम्पित
धरा अभी तक डोल रही।

कह दो उनसे जगा, कि उनकी
ध्वजा धूल में सोती है ;
सिंहासन है शून्य, सिद्धि
उनकी विधवा—सी रोती है।

रथ है रिक्त, करच्युत धनु है,
छिन्न मुकुट शोभाशाली,
खँडहर में क्या धरा, पड़े,
करते वे जिसकी रखवाली ?

जीवित है इतिहास किसी—विधि
वीर मगध बलशाली का,
केवल नाम शेष है उनके
नालन्दा, वैशाली का।

हिमगह्वर में किसी सिंह का
आज मन्द्र हुङ्कार नहीं,
सीमा पर बजनेवाले धौंसों
की अब धुधकार नहीं !

बुझी शौर्य्य की शिखा, हाय,
वह गौरव - ज्योति मलीन हुई,
कह दो उनसे जगा, कि उनकी
वसुधा वीर - विहीन हुई।

बुझा धर्म का दीप, भुवन में
छाया तिमिर अहंकारी ;
हमीं नहीं खोजते, खोजती
उसे आज दुनिया सारी।

वह प्रदीप, जिसकी लौ रण में
पत्थर को पिघलाती है;
लाल कीच के कमल, विजय, को
जो पद से ठुकराती है।

आज कठिन नरमेध ! सभ्यता
ने थे क्या विषधर पाले !
लाल कीच ही नहीं, रुधिर के
दौड़ रहे हैं नद - नाले।

अब भी कभी लहू में डूबी
विजय विहँसती आयेगी,
किस अशोक की आँख किन्तु,
रो कर उसको नहलायेगी ?

कहाँ अर्द्ध - नारीश वीर वे
अनल और मधु के मिश्रण ?
जिनमें नर का तेज प्रबल था,
भीतर था नारी का मन ?

एक नयन संजीवन जिनका,
एक नयन था हालाहल,
जितना कठिन खड्ग था कर में,
उतना ही अन्तर कोमल।

स्थूल देह की विजय आज,
है जग का सफल बहिर्जीवन;
क्षीण किन्तु, आलोक प्राण का,
क्षीण किन्तु, मानव का मन।

अर्चा सकल बुद्धि ने पायी,
हृदय मनुज का भूखा है;
बढ़ी सभ्यता बहुत, किन्तु,
अन्तःसर अब तक सूखा है।

यंत्र-रचित नर के पुतले का
बढ़ा ज्ञान दिन-दिन दूना;
एक फूल के बिना किन्तु, है—
हृदय-देश उसका सूना।

संहारों में अचल खड़ा है
धीर, वीर मानव ज्ञानी;
सूखा अन्तःसलिल, आँख में
आये क्या उसकी पानी?

सब कुछ मिला नये मानव को,
एक न मिला हृदय कातर;
जिसे तोड़ दे अनायास ही
करुणा की हलकी ठोकर।

'जड़ हो', यंत्र - पुरुष को दर्पण
एक फूटनेवाला दो ;
हृदयहीन के लिए ठेस पर
हृदय टूटनेवाला दो।

दो विषाद, निर्लज्ज मनुज यह
ग्लानिमग्न होना सीखे ;
विजय - मुकुट रुधिराक्त पहनकर
हँसे नहीं, रोना सीखे।

दावानल - सा जला रहा
नर को अपना ही बुद्धि - अनल ;
भरो हृदय का शून्य सरोवर,
दो शीतल करुणा का जल।

जग में भीषण अन्धकार है,
जगो, तिमिर - नाशक, जागो,
जगो मंत्र - द्रष्टा, जगती के
गौरव, गुरु, शासक, जागो।

गरिमा, ज्ञान, तेज, तप, कितने
सम्बल हाय, गये खोये ;
साक्षी है इतिहास, वीर, तुम
कितना बल लेकर सोये।

'जय हो' खोलो द्वार, अमृत दो,
हे जग के पहले दानी!
यह कोलाहल शमित करेगी
किसी बुद्ध की ही बानी।

१९४१]

कलिंग-विजय

(१)

युद्ध की इति हो गई ; रण-भू श्रमित, सुनसान ;
गिरिशिखर पर थम गया है डूबता दिनमान—

देखते यम का भयावह कृत्य,
अन्ध मानव की नियति का नृत्य;

सोचते, इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम ?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम ?

युद्ध का परिणाम ?
युद्ध का परिणाम ह्रासत्रास !
युद्ध का परिणाम सत्यानाश !
रुण्ड-मुण्ड-लुठन, निर्हिसन, मीच !
युद्ध का परिणाम लोहित कीच !

हो चुका जो कुछ रहा भवितव्य,
यह नहीं नर के लिए कुछ नव्य ;
भूमि का प्राचीन यह अभिशाप,
तू गगनचारी न कर सन्ताप।
मौन कब के हो चुके रण-तूर्य्य,
डूब जा तू भी कहीं ओ सूर्य्य !

छा गया तम, आ गये तारे तिमिर को चीर,
आ गया विधु; किन्तु, क्यों आकृति किये गम्भीर ?
और उस घन-खण्ड ने विधु को लिया क्यों ढाँक ?
फिर गया शशि क्या लजाकर पाप नर के झाँक ?
चाँदनी घन में मिली है छा रही सब ओर,
साँझ को ही दीखता ज्यों हो गया हो भोर।

मौन हैं चारों दिशाएँ, स्तब्ध है आकाश,
श्रव्य जो भी शब्द वे उठते मरण के पास।

(२)

शब्द ? यानी घायलों की आह,
घाव के मारे हुओं की क्षीण, करुण कराह,
बह रहा जिसका लहू उसकी करुण चीत्कार,
श्वान जिसको नोचते उसकी अधीर पुकार।
"घूँट भर पानी, जरा पानी" रटन, फिर मौन ;
घूँट भर पानी अमृत है, आज देगा कौन ?

बोलते यम के सहोदर श्वान,
बोलते जम्बुक कृतान्त - समान।

मृत्यु-गढ़ पर है खड़ा जयकेतु रेखाकार,
हो गई हो शान्ति मरघट की यथा साकार।
चल रहा ध्वज के हृदय में द्वन्द्व,
वैजयन्ती है झुकी निस्पन्द।

जा चुके सब लोग फिर आवास,
हतमना कुछ और कुछ सोल्लास।
अंक में घायल, मृतक, निश्चेत,
शूर-वीरों को लिटाये रह गया रण-खेत।

और इस सुनसान में निःसंग,
खोजते सच्छान्ति का परिष्वंग,
मूर्त्तिमय परिताप - से विभ्राट,
हैं खड़े केवल मगध - सम्राट।

टेक सिर ध्वज का लिये अवलम्ब,
आँख से झर - झर बहाते अम्बु।
भूलकर भूपाल का अहमित्व,
शीश पर वध का लिये दायित्व।

जा चुकी है दृष्टि जग के पार,
आ रहा सम्मुख नया संसार।
चीर वक्षोदेश भीतर पैठ,
देवता कोई हृदय में बैठ,
दे रहा है सत्य का संवाद,
सुन रहे सम्राट कोई नाद।

"मन्द मानव! वासना के भृत्य!
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य।
यह धरा तेरी न थी उपनीत,
शत्रु की त्यों ही नहीं थी क्रीत।

सृष्टि सारी एक प्रभु का राज,
स्वत्व है सब का प्रजा के व्याज।
मानकर प्रति जीव का अधिकार,
ढो रही धरणी सभी का भार।

एक ही स्तन का पयस कर पान,
जी रहे बलहीन औ बलवान।
देखने को बिम्ब - रूप अनेक,
किन्तु, दृश्याधार दर्पण एक

मृत्ति तो बिकती यहाँ बेदाम,
साँस से चलता मनुज का काम।
मृत्तिका हो याकि दीपित स्वर्ण,
साँस पाकर मूर्त्ति होती पूर्ण।

राज या बल पा अमित अनमोल,
साँस का बढ़ता न किंचित मोल।
दीनता, दौर्बल्य या अपमान,
त्यों घटा सकते न इसका मान।

तू हुआ सब कुछ, मनुज लेकिन, रहा अब क्या न ?
जो नहीं कुछ बन सका, वह भी मनुज है, मान।

हाय रे धनलुब्ध जीव कठोर!
हाय रे दारुण ! मुकुटधर भूप लोलुप, चोर।
साज कर इतना बड़ा सामान,
स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान।
खड्ग - बल का ले मृषा आधार,
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।

चरण से प्रभु के नियम को चाप,
तू बना है चाहता भगवान अपना आप।
भौं उठा पाये न तेरे सामने बलहीन,
इसलिए ही तो प्रलय यह ! हाय रे हिय-हीन !
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिये तुझको मनुज का खून।

क्रूरता का साथ ले आख्यान,
जा चुके हैं, जा रहे हैं प्राण।
स्वर्ग में है आज हाहाकार,
चाहता उजड़ा, बसा संसार।

भूमि का मानी महीप अशोक
बाँटता फिरता चतुर्दिक शोक।
"बाँटता सुत-शोक औ वैधव्य,
बाँटता पशु को मनुज का क्रव्य।

लूटता है गोदियों के लाल,
लूटता सिन्दूर - सज्जित भाल।
यह मनुज - तन में किसी शक्रारि का अवतार,
लूट लेता है नगर की सिद्धि, सुख, शृङ्गार।
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिए उसको मनुज का खून।"

(३)

आत्म - दंशन की व्यथा, परिताप, पश्चात्ताप,
डँस रहे सब मिल, उठा है भूप का मन काँप।

स्तब्धता को भेद बारम्बार,
आ रहा है क्षीण हाहाकार।

यह हृदय - द्रावक, करुण वैधव्य की चीत्कार!
यह किसी बूढ़े पिता की भग्न, आर्त्त पुकार!
यह किसी मृतवत्सला की आह!
आ रही करती हुई दिवदाह!

आ रही है दुर्बलों की हाय,
सूझता है त्राण का नृप को न एक उपाय!
आह की सेना अजेय विराट,
भाग जा, छिप जा कहीं सम्राट।

खड्ग से होगी नहीं यह भीत,
तू कभी इसको न सकता जीत।

सामने मन के विरूपाकार,
है खड़ा उल्लंग हो संहार।
षोडशी शुक्लाम्बराएँ आभरण कर दूर,
धूल मल कर धो रही हैं माँग का सिन्दूर।
वीर - बेटों की चिताएँ देख ज्वलित समक्ष,
रो रहीं माँएँ हजारों पीटती सिर - वक्ष।

हैं खुले नृप के हृदय के कान ;
हैं खुले मन के नयन अम्लान।
सुन रहे हैं विह्वला की आह,
देखते हैं स्पष्ट शव का दाह।
सुन रहे हैं भूप होकर व्यग्र,
रो रहा कैसे कलिंग समग्र।

रो रही हैं वे कि जिनका जल गया शृङ्गार ;
रो रहीं जिनका गया मिट फूलता संसार ;
जल गई उम्मीद, जिनका जल गया है प्यार ;
रो रहीं जिनका गया छिन एक ही आधार।

चूड़ियाँ दो एक की प्रतिगृह हुई हैं चूर,
पुछ गया प्रति गेह से दो एक का सिन्दूर।
बुझ गया प्रतिगृह किसी की आँख का आलोक।
इस महा विध्वंस का दायी महीप अशोक।

ध्यान में थे हो रहे आघात,
कान ने सुनली मगर यह बात।
नाम सुन अपना उसाँसें खींच,
नाक, भौं, आँखें घृणा से मीच,

इस तरह बोले महीपति खिन्न
आप से ज्यों हो गये हों भिन्न :—
"विश्व में पापी महीप अशोक,
छीनता है आँख का आलोक।"

देह के दुर्द्धर्ष पशु को मार,
ले चुके हैं देवता अवतार।
निन्द्य लगते पूर्वकृत सब काम,
सुन न सकते आज वे निज नाम।

अश्रु में घुल बह गया कुत्सित, निहीन, विवर्ण,
रह गया है शेष केवल तप्त, निर्मल स्वर्ण।
हूक - सी आकर गई कोई हृदय को तोड़,
ठेस से विष - भाण्ड को कोई गई है फोड़।

बह गया है अश्रु बनकर कालकूट ज्वलन्त,
जा रहा भरता दया के दूध से वेशन्त।

दूध अन्तर का सरल, अम्लान,
खिल रहा मुख - देश पर द्युतिमान।
किन्तु, हैं अब भी झनत्कृत तार,
बोलते हैं भूप बारम्बार—
"हाय रे गर्हित विजय - मद ऊन,
क्या किया मैंने! बहाया आदमी का खून!"

(४)

खुल गई है शुभ्र मन की आँख,
खुल गई है चेतना की पाँख ;
प्राण की अन्तःशिला पर आज पहली बार,
जागकर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार।

आँसुओं में गल रहे हैं प्राण,
खिल रहा मन में कमल अम्लान।

गिर गया हतबुद्धि - सा थककर पुरुष दुर्जेय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय।
अर्धनारीश्वर अशोक महीप ;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।

पायलों की सुन मृदुल झनकार,
गिर गई कर से स्वयं तलवार।
वज्र का उर हो गया दो टूक,
जग उठी कोई हृदय में हूक।

लाल किरणों में यथा हँसता तटी का देश,
एक कोमल ज्ञान से त्यों खिल उठा हृद्देश।
खोल दृग, चारों तरफ अवलोक,
सिर झुका कहने लगे मानी महीप अशोकः—

"हे नियन्ता विश्व के कोई अचिन्त्य, अमेय !
ईश या जगदीश कोई शक्ति हे अज्ञेय !

हों नहीं क्षन्तव्य जो मेरे विगर्हित पाप,
दो वचन अक्षय रहे यह ग्लानि, यह परिताप।

प्राण में बल दो, रखूँ निज को सदैव सँभाल,
देव, गर्वस्फीत हो ऊँचा उठे मत भाल।

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार,
पुत्र - सा पशु - पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।

मिट नहीं जाए किसी का चरण - चिह्न पुनीत,
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग, संभीत।

हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
धर्म्म का गूँजे जगत में घोष।

बुद्ध की जय ! धम्म की जय ! संघ का जय - गान,
आ बसें मुझमें तथागत मारजित् भगवान।"

देवता को सौंप कर सर्वस्व,
भूप मन ही मन गये हो निःस्व ।

(४)

और तब उन्मादिनी सोल्लास,
रक्त पर बहती विजय आई वरण को पास ।
संग लेकर ब्याह का उपहार,
रक्त-कर्दम के कमल का हार ।

पर, डिगे तिल-भर न वीर महीप ;
थी जला करुणा चुकी तब तक विजय का दीप ।

१९४१]

प्रतिकूल

(१)

है बीत रहा विपरीत ग्रहों का लग्न-याम;
मेरे उन्मादक भाव, आज तुम लो विराम।

उन्नत सिर पर जब तक हो शम्पा का प्रहार,
सोओ तब तक जाज्वल्यमान मेरे विचार।

तब भी आशा मत मरे, करे पीयूष-पान;
वह जिये सोच, मेरा प्रयास कितना महान।

द्रुम अचल, पवन ले जाय उड़ा पत्ती-पराग;
बुझती है केवल शिखा, कभी बुझती न आग।

मेरे मन हो आश्वस्त सोच कर एक बात,
इच्छा में भी उसकी, जिसका यह शम्ब-पात।

(२)

साखी है सारा व्योम, अयाचित मिले गान ;
मैंने न इष्ट से कहा, करो कवि - सत्व दान।

उसकी इच्छा थी, उठा गूँज गर्जन गभीर,
मैं धूमकेतु - सा उगा तिमिर का हृदय चीर।

मृत्तिका - तिलक ले कर प्रभु का आदेश मान,
मैंने अम्बर को छोड़ धरा का किया गान।

मानव की पूजा की मैंने सुर के समक्ष,
नर की महिमा का लिखा पृष्ठ नूतन, वलक्ष।

हृतपुण्य -अनघ, जन पतित-पूत, लघु - महीयान,
मानव कह, अन्तर खोल मिला सबसे समान।

समता के शव प्रत्यूह देख अतिशय अधीर,
सच है, मैंने छोड़े अनेक विष - बुझे तीर।

वे तीर कि जिनसे विद्ध दिशाएँ उठीं जाग,
भू की छाती में लगी खौलने सुप्त आग।

मैंने न सुयश की भीख माँगते किया गान,
थी चाह कि मेरा स्वप्न कभी हो मूर्त्तिमान।

स्वर का पथ पा चल पड़ा स्वयं मन का प्रवाह,
चुन ली जीवन ने स्वयं गीत की प्रगुण राह।

(३)

इच्छा प्रभु की मुझ में आ बोली बार - बार,
दिव को कंचन - सा गला करो भू का सिंगार।

वाणी, पर, अब तक विफल मुझे दे रही खेद,
टकराकर भी सकती न वज्र का हृदय भेद।

जिनके हित मैंने कण्ठ फाड़कर किया नाद,
माधुरी जली मेरी, न जला उनका प्रमाद।

आखिर क्लीवों को देख धीरता गई छूट,
धरती पर मैंने छिड़क दिया विष कालकूट।

पर, सुनकर भी जग ने न सुनी प्रभु की पुकार,
समझा कि बोलता था मेरा कटु अहंकार।

हा, अहंकार ! ब्रह्माण्ड - बीच अणु एक खर्व,
ऐसा क्या तत्व स्वकीय जिसे ले करूँ गर्व ?

मैं रिक्त-हृदय बंसी, फूँकें तो उठे हूक,
दें अधर छुड़ा देवता कहीं तो रहूँ मूक।

जानें करना होगा कब तक यह तप कराल !
चलना होगा कब तक दुरध्व पर हृदय वाल !

बन सेतु पड़ा रहना होगा छू युग्म देश,
कर सके इष्ट जिस पर चढ़ नवयुग में प्रवेश !

सुन रे मन, अस्फुट-सा कहता क्या महाकाश ?
जलता है कोई द्रव्य, तभी खिलता प्रकाश !

तप से जीवन का जन्म, इसे तप रहा पाल,
है टिकी तपस्या पर विधि की रचना विशाल।

तप से प्रदीप्त मार्तण्ड, चन्द्र शीतल मनोज्ञ,
तप से स्थित उडु नभ में ले आसन यथा-योग्य।

सागर में तप परिणाह, सरित में खर प्रवाह,
घन में जीवन, गिरि में नूतन प्रस्रवण-चाह।

द्रुम के जीवन में सुमन, सुमन में तप सुगन्ध ;
तृण में हरीतिमा, व्याप्ति महा नभ में विबन्ध।

नर में तप पौरुष-शिखा, शौर्य का हेम-हास,
नारी में अर्जित पुराचीन तप का प्रकाश।

जग के विकास-क्रम में जो जितना महीयान,
है उसका तप उतना चिरायु, उतना महान।

मानव का पद सर्वोच्च, अतः, तप भी कठोर,
अपनी पीड़ा का कभी उसे मिलता न छोर।

रे पथिक! मुदित मन झेल, मिलें जो अन्तराय,
जलने दे मन का बोझ, नहीं कोई उपाय।

१९४१]

आग की भीख

(१)

धुँधली हुईं दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से आने लगा धुआँ-सा।
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है;
मुँह को छिपा तिमिर में क्यों तेज रो रहा है?
दाता, पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे;
बुझती हुई शिखा को संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।

(२)

बेचैन हैं हवाएँ, सब ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता, किश्ती किधर चली है?
मँझधार है, भँवर है या पास है किनारा?
यह नाश आ रहा या सौभाग्य का सितारा?
आकाश पर अनल से लिख दे अदृष्ट मेरा,
भगवान, इस तरी को भरमा न दे अँधेरा।
तम-वेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ।
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ।

(३)

आगे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है,
बल-पुँज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है,
अग्निस्फुलिंग रजका, बुझ, ढेर हो रहा है,
है रो रही जवानी, अन्धेर हो रहा है।
निर्वाक है हिमालय, गङ्गा डरी हुई है।
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
पंचास्य-नाद भीषण, विकराल माँगता हूँ।
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।

(४)

मन की बँधी उमंगें असहाय जल रही हैं,
अरमान-आरजू की लाशें निकल रही हैं।
भींगी-खुली पलों में रातें गुजारते हैं,
सोती वसुन्धरा जब तुझको पुकारते हैं।
इनके लिए कहीं से निर्भीक तेज ला दे,
पिघले हुए अनल का इनको अमृत पिला दे,
उन्माद, बेकली का उत्थान माँगता हूँ।
विस्फोट माँगता हूँ, तूफान माँगता हूँ।

(५)

आँसू-भरे दृगों में चिनगारियाँ सजा दे,
मेरे श्मशान में आ शृंगी जरा बजा दे;
फिर एक तीर सीनों के आर-पार कर दे,
हिमशीत प्राण में फिर अंगार स्वच्छ भर दे।
आमर्ष को जगानेवाली शिखा नई दे,
अनुभूतियाँ हृदय में दाता, अनलमयी दे।
विष का सदा लहू में संचार माँगता हूँ,
बेचैन जिन्दगी का मैं प्यार माँगता हूँ।

(६)

ठहरी हुई तरी को ठोकर लगा चला दे,
जो राह हो हमारी उस पर दिया जला दे।
गति में प्रभंजनों का आवेग फिर सबल दे।
इस जाँच की घड़ी में निष्ठा कड़ी, अचल दे।
हम दे चुके लहू हैं, तू देवता विभा दे,
अपने अनल-विशिख से आकाश जगमगा दे।
प्यारे स्वदेश के हित वरदान माँगता हूँ,
तेरी दया विपद् में भगवान, माँगता हूँ।

१९४३]

दिल्ली और मॉस्को

(१)

जय विधायिके अमर क्रांति की ! अरुण देश की रानी !
रक्त-कुसुम-धारिणि ! जगतारिणि ! जय नव शिवे ! भवानी !

अरुण विश्व की काली, जय हो,
लाल सितारोंवाली, जय हो,
दलित, बुभुक्षु, विषण्ण मनुज की,
शिखा रुद्र मतवाली, जय हो ।

जगज्ज्योति, जय - जय, भविष्य की राह दिखानेवाली,
जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली ।
भरे प्राण में आग, भयानक विप्लव का मद ढाले,
देश-देश में घूम रहे तेरे सैनिक मतवाले।

नगर-नगर जल रहीं भट्ठियाँ,
घर-घर सुलग रही चिनगारी ;
यह आयोजन जगद्दहन का,
यह जल उठने की तैयारी ;

देश-देश में शिखा क्षोभ की
उमड़-घुमड़ कर बोल रही है ;
लरज रहीं चोटियाँ शैल की,
धरती क्षण-क्षण डोल रही है।

ये फूटे अंगार, कढ़े अंबर में लाल सितारे,
फटी भूमि, वे बढ़े ज्योति के लाल-लाल फव्वारे।
बंध, विषमता के विरुद्ध सारा संसार उठा है।
अपना बल पहचान, लहर कर पारावार उठा है।
छिन्न-भिन्न हो रहीं मनुजता के बन्धन की कड़ियाँ,
देश-देश में बरस रहीं आजादी की फुलझड़ियाँ।

(२)

एक देश है जहाँ विषमता
से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतंत्रता
से हो रहा साम्य का कामी।

भ्रमित ज्ञान से जहाँ जाँच हो
रही दीप्त स्वातंत्र्य-समर की,
जहाँ मनुज है पूज रहा जग को,
बिसार सुधि अपने घर की।

जहाँ मृषा संबंध विश्व-मानवता
से नर जोड़ रहा है,
जन्मभूमि का भाग्य जगत की
नीति-शिला पर फोड़ रहा है।

चिल्लाते हैं "विश्व, विश्व" कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धि-भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मासको के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

(३)

दिल्ली, आह, कलंक देश की,
दिल्ली, आह, ग्लानि की भाषा,
दिल्ली, आह, मरण पौरुष का,
दिल्ली, छिन्न-भिन्न अभिलाषा।

विवश देश की छाती पर ठोकर की एक निशानी,
दिल्ली, पराधीन भारत की जलती हुई कहानी।
मरे हुओं की ग्लानि, जीवितों को रण की ललकार,
दिल्ली, वीरविहीन देश की गिरी हुई तलवार।

बरबस लगी देश के होठों
से यह भरी जहर की प्याली,
यह नागिनी स्वदेश-हृदय पर
गरल उँड़ेल लोटनेवाली।

प्रश्नचिह्न भारत का, भारत के बल की पहचान,
दिल्ली राजपुरी भारत की, भारत का अपमान।

(४)

ओ समता के वीर सिपाही,
कहो, सामने कौन अड़ी है ?
बल से दिए पहाड़ देश की
छाती पर यह कौन पड़ी है ?

यह है परतंत्रता देश की,
रुधिर देश का पीनेवाली ;
मानवता कहता तू जिसको
उसे चबाकर जीनेवाली।

यह पहाड़ के नीचे पिसता
हुआ मनुज क्या प्रेय नहीं है ?
इसका मुक्ति-प्रयास स्वयं ही
क्या, उज्ज्वलतम श्रेय नहीं है ?

यह जो कटे वीर-सुत माँ के,
यह जो बही रुधिर की धारा,
यह जो डोली भूमि देश की,
यह जो काँप गया नभ सारा ;

यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश ;
यह जो खड़ी हुई मानवता रचने को इतिहास ;
कोटि-कोटि सिंहों की यह जो उठी मिलित, दहाड़ ;
यह जो छिपे सूर्य-शशि, यह जो हिलने लगे पहाड़।

सो क्या था विस्फोट अनर्गल ?
बाल-कुतूहल ? नर-प्रमाद था ?
निष्पेषित मानवता का यह
क्या न भयंकर तूर्य-नाद था ?

इस उद्वेलन—बीच प्रलय का
था पूरित उल्लास नहीं क्या ?
लाल भवानी पहुँच गई है
भरत-भूमि के पास नहीं क्या ?

फूट पड़ी है क्या न प्राण में नये तेज की धारा ?
गिरने को हो रही छोड़कर नींव नहीं क्या कारा ?
जनपति के पद में जबतक है बँधी हुई जंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर ?

(५)

दहक रही मिट्टी स्वदेश की,
खौल रहा गङ्गा का पानी ;
प्राचीरों में गरज रही है
जञ्जीरों से कसी जवानी।

यह प्रवाह निर्भीक तेज का,
यह अजस्र यौवन की धारा,
अनवरुद्ध यह शिखा यज्ञ की,
यह दुर्जय अभियान हमारा।

यह सिद्धाग्नि प्रबुद्ध देश की जड़ता हरनेवाली,
जन-जन के मन में बन पौरुष-शिखा विहरनेवाली।
अर्पित करो समिध, आओ, हे समता के अभियानी!
इसी कुंड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।

(६)

हाँ, भारत की लाल भवानी,
जवा-कुसुम के हारोंवाली,
शिवा, रक्त-रोहित-वसना,
कबरी में लाल सितारोंवाली।

कर में लिए त्रिशूल, कमंडल,
दिव्य-शोभिनी, सुरसरि-स्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी,
साम्य-धर्म-ध्वज-धर की माता।

भरत-भूमि की मिट्टी से शृङ्गार सजानेवाली,
चढ़ हिमाद्रिपर विश्व-शांति का शंख बजानेवाली।

(७)

दिल्ली का नभ दहक उठा, यह—
श्वास उसी कल्याणी का है।
चमक रही जो लपट चतुर्दिक,
अंचल लाल भवानी का है।

खौल रहे जो भाव वह्निमय,
ये हैं आशीर्वाद उसीके,
'जय भारत' के तुमुल रोर में
गुँजित संगर-नाद उसीके।

दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है,
दबा हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र, धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभियानी।

१९४५]

सरहद के पार से

जन्मभूमि से दूर, किसी बन में या सरित-किनारे,
हम तो लो, सो रहे लगाते आजादी के नारे।

ज्ञात नहीं किनको कितने दुख में हम छोड़ चले हैं,
किस असहाय दशा में किनसे नाता तोड़ चले हैं ?

जो रोयें, तुम उन्हें सुनाना ज्वालामयी कहानी,
स्यात्, सुखा दे यह ज्वाला उनकी आँखों का पानी।

आये थे हम यहाँ देश-माता का मान बढ़ाने,
स्वतन्त्रता के महा यज्ञ में अपना हविस् चढ़ाने।

सो पूर्णाहुति हुई; देवता की सुन अन्य पुकार,
मिट्टी की गोदी तज हम चलने को हैं तैयार।

माँ का आशीर्वाद, प्रिया का प्रेम लिये जाते हैं,
केवल है सन्देश एक जो तुम्हें दिये जाते हैं।

यह झण्डा, जिसको मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही है,
छिन न जाय, इस भय से अब भी कस कर पकड़ रही है;

थामो इसे ; शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रुकेगा,
चाहे जो हो जाय, मगर, यह झण्डा नहीं झुकेगा।

इस झण्डे में शान चमकती है मरने वालों की,
भीमकाय पर्वत से मुट्ठीभर लड़नेवालों की।

इसके नीचे ध्वनित हुआ 'आजाद हिन्द' का नारा,
बही देश भर के लोहू की यहाँ एक हो धारा।

जिस दिन हो तिमिरान्त, विजय की किरणें जब लहरायें,
अलग-अलग बहनेवाली ये सरिताएँ मिल जाएँ।

संगम पर गाड़ना ध्वजा यह, इसका मान बढ़ाना,
और याद में हम-जैसों की भी दो फूल चढ़ाना।

१९४५]

फलेगी डालों में तलवार

(१)

धनी दे रहे सकल सर्वस्व,
तुम्हें इतिहास दे रहा मान ;
सहस्रों बलशाली शार्दूल
चरण पर चढ़ा रहे हैं प्राण।

दौड़ती हुई तुम्हारी ओर
जा रहीं नदियाँ विकल, अधीर
करोड़ों आँखें पगली हुईं,
ध्यान में झलक उठी तस्वीर।

पटल जैसे-जैसे उठ रहा,
फैलता जाता है भूडोल।

(२)

हिमालय रजत-कोष ले खड़ा,
हिन्द-सागर ले खड़ा प्रवाल,
देश के दरवाजे पर रोज
खड़ी होती ऊषा ले माल।

कि जानें तुम आओ किस रोज
बजाते नूतन रुद्र-विषाण,
किरण के रथ पर हो आसीन
लिये मुट्ठी में स्वर्ण-विहान।

स्वर्ग जो हाथों को है दूर,
खेलता उससे भी मन लुब्ध।

(३)

धनी देते जिसको सर्वस्व,
चढ़ाते बली जिसे निज प्राण,
उसी का ले कर पावन नाम
कलम बोती है अपने गान।

गान, जिनके भीतर संतप्त
जाति का जलता है आकाश;
उबलते गरल, द्रोह, प्रतिशोध,
दर्प से बलता है विश्वास।

(२)

खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुए लोग
उठने लगे ले मशाल,[†]
खड़ा हो कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है ज्वाला कराल !
खड़ा हो कि फिर फूँक विष की लगा
धुजटी ने बजाया विषान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

(३)

गरज कर बता सबको, मारे किसीके
मरेगा नहीं हिन्द-देश,
लहू की नदी तैर कर आ गया है,
कहीं से कहीं हिन्द-देश !
लड़ाई के मैदान में चल रहे लेके
हम उसका उड़ता निशान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

[†] यूनान के युद्धोत्तर विद्रोह के समय रचित

(४)

अहा ! जगमगाने लगी रात की
मांग में रौशनी की लकीर,
अहा ! फूल हँसने लगे, सामने देख,
उड़ने लगा वह अबीर
अहा ! यह उषा हो के उड़ता चला
आ रहा देवता का विमान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

१९४४]

जवानियाँ

नये सुरों में शिंजिनी बजा रहीं जवानियाँ
लहू में तैर-तैर के नहा रहीं जवानियाँ।

(१)

प्रभात-शृंग से घड़े सुवर्ण के उँड़ेलती;
रँगी हुई घटा में भानु को उछाल खेलती;
तुषार-जाल में सहस्र हेम-दीप बालती,
समुद्र की तरंग में हिरण्य-धूलि डालती;

सुनील चीर को सुवर्ण-बीच बोरती हुई,
धरा के ताल-ताल में उसे निचोड़ती हुई;
उषा के हाथ की विभा लुटा रहीं जवानियाँ।

(२)

घनों के पार बैठ तार बीन के चढ़ा रहीं,
सुमन्द्र नाद में मलार विश्व को सुना रहीं;
अभी कहीं लटें निचोड़ती, जमीन सींचती,
अभी बढ़ीं घटा में क्रुद्ध काल-खड्ग खींचती;

पड़ीं व' टूट देख लो, अजस्र वारिधार में,
चलीं व' बाढ़ बन, नहीं समा सकी कगार में।
रुकावटों को तोड़-फोड़ छा रहीं जवानियाँ।

(३)

हटो तमीचरो, कि हो चुकी समाप्त रात है,
कुहेलिका के पार जगमगा रहा प्रभात है।
लपेट में समेटता रुकावटों को तोड़ के,
प्रकाश का प्रवाह आ रहा दिगन्त फोड़ के!

विशीर्ण डालियाँ महीरुहों की टूटने लगीं;
शमा की झालरें व' टक्करों से फूटने लगीं।
चढ़ी हुई प्रभंजनों प' आ रहीं जवानियाँ।

(४)

घटा को फाड़ व्योम-बीच गूँजती दहाड़ है,
जमीन डोलती है और डोलता पहाड़ है;
भुजंग दिग्गजों से, कूर्मराज त्रस्त कोल से,
धरा उछल-उछल के बात पूछती खगोल से।

कि क्या हुआ है सृष्टि को ? न एक अंग शान्त है;
प्रकोप रुद्र का ? कि कल्पनाश है, युगान्त है ?
जवानियों की धूम-सी मचा रहीं जवानियाँ।

(५)

समस्त सूर्य-लोक एक हाथ में लिये हुए,
दबा के एक पाँव चन्द्र-भाल पर दिये हुए,
खगोल में धुआँ बिखेरती प्रतप्त श्वास से,
भविष्य को पुकारती हुई प्रचण्ड हास से;

उछाल देव-लोक को मही से तोलती हुई,
मनुष्य के प्रताप का रहस्य खोलती हुई;
विराट रूप विश्व को दिखा रहीं जवानियाँ।

(६)

मही प्रदीप्त है, दिशा-दिगन्त लाल-लाल है,
व' देख लो, जवानियों की जल रही मशाल है;
व' गिर रहे हैं आग में पहाड़ टूट-टूट के,
व' आसमाँ से आ रहे हैं रत्न छूट-छूट के;

उठो, उठो कुरीतियों की राह तुम भी रोक दो,
बढ़ो, बढ़ो, कि आग में गुलामियों को झोंक दो,
परम्परा की होलिका जला रहीं जवानियाँ।

(७)

व' देख लो, खड़ी है कौन तोप के निशान पर;
व' देख लो, अड़ी है कौन जिन्दगी की आन पर;
व' कौन थी जो कूद के अभी गिरी है आग में ?
लहू बहा ? कि तेल आ गिरा नया चिराग में ?

अहा, व अश्रु था कि प्रेम का दबा उफान था ?
हँसी थी या कि चित्र में सजीव, मौन गान था ?
अलभ्य भेंट काल को चढ़ा रहीं जवानियाँ।

(८)

अहा, कि एक रात चाँदनी-भरी सुहावनी,
अहा, कि एक बात प्रेम की बड़ी लुभावनी ;
अहा, कि एक याद दूब-सी मरुप्रदेश में,
अहा, कि एक चाँद जो छिपा विदग्ध वेश में ;

अहा, पुकार कर्म की ; अहा, री पीर मर्म की,
अहा, कि प्रीति भेंट जा चढ़ी कठोर धर्म की।
अहा, कि आँसुओं में मुस्कुरा रहीं जवानियाँ।

१९४४]

जयप्रकाश

झंझा सोई, तूफान रुका,
प्लावन जा रहा कगारों में;
जीवित है सब का तेज किन्तु,
अब भी तेरे हुंकारों में।

दो दिन पर्वत का मूल हिला,
फिर उतर सिन्धु का ज्वार गया,
पर, सौंप देश के हाथों में
वह एक नई तलवार गया।

'जय हो' भारत के नये खड्ग;
जय तरुण देश के सेनानी!
जय नई आग! जय नई ज्योति!
जय नये लक्ष्य के अभियानी!

स्वागत है, आओ, काल-सर्प के
फण पर चढ़ चलने वाले!
स्वागत है, आओ, हवनकुण्ड में
कूद स्वयं बलने वाले!

मुट्ठी में लिये भविष्य देश का,
वाणी में हुंकार लिये,
मन से उतार कर हाथों में
निज स्वप्नों का संसार लिये।

सेनानी! करो प्रयाण अभय,
भावी इतिहास तुम्हारा है;
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है।

जो कुछ था निर्गुण, निराकार,
तुम उस द्युति के आकार हुए,
पी कर जो आग पचा डाली,
तुम स्वयं एक अंगार हुए।

साँसों का पा कर वेग देश की
हवा तवी-सी जाती है,
गंगा के पानी में देखो,
परछाइ आग लगाती

विप्लव ने उँगला तुम्हें, महामणि
उगले ज्यों नागिन कोई;
माता ने पाया तुम्हें यथा
मणि पाये बड़भागिन कोई।

लौटे तुम रूपक बन स्वदेश की
आग भरी कुरबानी का,
अब "जयप्रकाश" है नाम देश की
आतुर, हठी जवानी का।

कहते हैं उसको "जयप्रकाश"
जो नहीं मरण से डरता है,
ज्वाला को बुझते देख, कुण्ड में
स्वयं कूद जो पड़ता है।

है "जयप्रकाश" वह जो न कभी
सीमित रह सकता घेरे में,
अपनी मशाल जो जला
बाँटता फिरता ज्योति अँधेरे में।

है "जयप्रकाश" वह जो कि पंगु का
चरण, मूक की भाषा है,
है "जयप्रकाश" वह टिकी हुई
जिस पर स्वदेश की आशा है।

हाँ, "जयप्रकाश" है नाम समय की
करवट का, अँगड़ाई का ;
भूचाल, बवण्डर के ख्वाबों से
भरी हुई तरुणाई का।

है "जयप्रकाश" वह नाम जिसे
इतिहास समादर देता है,
बढ़ कर जिसके पद-चिह्नों को
उर पर अंकित कर लेता है।

ज्ञानी करते जिसको प्रणाम,
बलिदानी प्राण चढ़ाते हैं,
वाणी की अंग बढ़ाने को
गायक जिसका गुण गाते हैं।

आते ही जिसका ध्यान,
दीप्त हो प्रतिभा पंख लगाती है,
कल्पना ज्वार से उद्वेलित
मानस-तट पर थर्राती है।

वह सुनो, भविष्य पुकार रहा,
"वह दलित देश का त्राता है,
स्वप्नों का द्रष्टा "जयप्रकाश"
भारत का भाग्य-विधाता है।"

१९४६]

राही और बाँसुरी

राही

सूखी लकड़ी ! क्यों पड़ी राह में
यों रह-रह चिल्लाती है ?
सुर से बरसा कर आग
राहियों का क्यों हृदय जलाती है ?

यह दूब और वह चन्दन है ;
यह घटा और वह पानी है ?
ये कमल नहीं हैं, आँखें हैं ;
वह बादल नहीं, जवानी है।

बरसाने की है चाह अगर
तो इनसे लेकर रस बरसा।
गाना हो तो मीठे सुर में,
जीवन का कोई दर्द सुना।

चाहिए सुधामय शीतल जल,
है थकी हुई दुनिया सारी।
यह आग-आग की चीख किसे,
लग सकती है कब तक प्यारी ?

प्यारी है आग अगर तुझको,
तो सुलगा उसे स्वयं जल जा।
सुर में हो शेष मिठास नहीं,
तो चुप रह या पथ से टल जा।

बाँसुरी

बजता है समय अधीर पथिक,
मैं नहीं सदाएँ देती हूँ।
हूँ पड़ी राह से अलग, भला
किस राही का क्या लेती हूँ ?

मैं भी न जान पाई अब तक,
क्यों था मेरा निर्माण हुआ।
सूखी लकड़ी के जीवन का
जानें सर्वस क्यों गान हुआ।

जानें किसकी दौलत हूँ मैं
अनजान, गाँठ से गिरी हुई।
जानें किसका हूँ ख्वाब,
न जानें किस्मत किसकी फिरी हुई।

तुलसी के पत्ते चले गये
पूजोपहार बन जाने को।
चन्दन के फूल गये जग में
अपना सौरभ फैलाने को

जो दूब पड़ोसिन है मेरी
वह भी मन्दिर में जाती है।
पूजतीं कृषक-वधुएँ आकर,
मिट्टी भी आदर पाती है।

बस, एक अभागिन हूँ जिसका
कोई न कभी भी आता है।
तूफाँ से लेकर काल-सर्प तक
मुझको छेड़ बजाता है।

यह जहर नहीं मेरा राही,
बदनाम वृथा मैं होती हूँ।
दुनिया कहती है चीख
मगर, मैं सिसक-सिसक कर रोती हूँ।

हो बड़ी बात, कोई मेरी
ज्वाला में मुझे जला डाले।
या मुख जो आग उगलता है
आकर जड़ दे उस पर ताले।

दुनिया भर का संताप लिये
हर रोज हवाएँ आती हैं।
अधरों से मुझको लगा
व्यथा जानें किस-किसकी गाती हैं।

मैं काल-सर्प से ग्रसित, कभी
कुछ अपना भेद न गा सकती,
दर्दीली तान सुना दुनिया
का मन न कभी बहला सकती।

दर्दीली तान, अहा, जिसमें
कुछ याद कभी की बजती है,
मीठे सपने मँडराते हैं,
मादक वेदना गरजती है।

धुँधली-सी है कुछ याद,
गाँव के पास कहीं कोई वन था;
दिन भर फूलों की छाँह-तले
खेलता एक मनमोहन था।

मैं उसके ओठों से लगकर
जानें किस धुन में गाती थी,
झोंपड़ियाँ दहक-दहक उठतीं,
गृहिणी पागल बन जाती थी।

मुँह का तृण मुँह में धरे विकल
पशु भी तन्मय रह जाते थे,
चञ्चल समीर के दूत कुञ्ज में
जहाँ - तहाँ थम जाते थे।

रसमयी युवतियाँ रोती थीं,
आँखों से आँसू झरते थे,
सब के मुख पर बेचैन,
विकल कुछ भाव दिखाई पड़ते थे।

मानो, छाती को चीर हृदय
पल में कढ़ बाहर आयेगा,
मानो, फूलों की छाँह-तले
संसार अभी मिट जायेगा।

यह सुधा थी कि थी आग?
भेद कोई न समझ यह पाती थी,
मैं और तेज हो कर बजती
जब वह बेबस हो जाती थी।

उफ री! अधीरता उस मुख की,
वह कहना उसका "रुको, रुको,
चूमो, यह ज्वाला शमित करो
मोहन! डाली से झुको, झुको।"

फूली कदम्ब की डाली पर
लेकिन, मेरा वह इठलाना,
उस मृगनयनी को बिंधी देख
पश्चम में और पहुँच जाना।

मदभरी सुन्दरी ने आखिर
होकर अधीर दे शाप दिया—
"कलमुँही, अधर से लग कर भी
क्या तूने केवल जहर पिया ?

"जा, मासूमों को जला कभी
तू भी न स्वयं सुख पायेगी।
मोहन फूँकेंगे पांच—जन्य
तू आग - आग चिल्लायेगी।"

सच ही, मोहन ने शंख लिया,
मुझसे बोले, "जा, आग लगा,
कुत्सा की कुछ परवाह न कर,
तू जहाँ रहे ज्वाला सुलगा।"

तब से ही धूल - भरे पथ पर
मैं रोती हूँ, चिल्लाती हूँ।
चिनगारी मिलती जहाँ
गीत की कड़ी बनाकर गाती हूँ।

मैं बिकी समय के हाथ पथिक,
मुझ पर न रहा मेरा बस है।
है व्यर्थ पूछना, वंसी में
'कोई मादक, मीठा रस है ?

जो मादक है, जो मीठा है,
जानें वह फिर कब आयेगा,
गीतों में भी बरसेगा या
सपनों में ही मिट जायेगा ?

जलती हूँ जैसे हृदय - बीच
सौरभ समेट कर कमल जले,
बलती हूँ जैसे छिपा स्नेह
अन्तर में कोई दीप बले।

तुम नहीं जानते पथिक आग
यह कितनी मादक पीड़ा है।
भीतर पसीजता मोम
लपट की बाहर होती क्रीड़ा है।

मैं पी कर ज्वाला अमर हुई,
दिखला मत रस-उन्माद मुझे,
रोशनी लुटाती हूँ राही,
ललचा सकता अवसाद मुझे ?

हतभागे, यों मुँह फेर नहीं,
जो चीज आग में खिलती है,
धरती तो क्या ? जन्नत में भी
वह नहीं सभी को मिलती है।

मेरी पूँजी है आग, जिसे
जलना हो, बढ़े, निकट आये,
मैं दूँगी केवल दाह,
सुधा वह जाकर कोयलसे पाये।

१९४६]

साथी

उसे भी देख, जो भीतर भरा अङ्गार है साथी।

(१)

सियाही देखता है, देखता है तू अन्धेरे को,
किरण को घेर कर छाये हुए विकराल घेरे को।
उसे भी देख, जो इस बाहरी तम को बहा सकती,
दबी तेरे लहू में रौशनी की धार है साथी।

(२)

पड़ी थी नींव तेरी चाँद-सूरज के उजाले पर,
तपस्या पर, लहू पर, आग पर, तलवार-भाले पर।
डरे तू नाउमेदी से, कभी यह हो नहीं सकता।
कि तुझ में ज्योतिका अक्षय भरा भण्डार है साथी

(३)

बवण्डर चीखता लौटा, फिरा तूफान जाता है,
डराने के लिए तुझको नया भूडोल आता है;
नया मैदान है राही, गरजना है नये बल से;
उठा, इस बार वह जो आखिरी हुंकार है साथी।

(४)

विनय की रागिनी में बीन के ये तार बजते हैं,
रुदन बजता, सजग हो क्षोभ-हाहाकार बजते हैं।
बजा, इस बार दीपक-राग कोई आखिरी सुर में;
छिपा इस बीन में ही आगवाला तार है साथी।

(५)

गरजते शेर आये, सामने फिर भेड़िये आये,
नखों को तेज, दाँतों को बहुत तीखा किये आये।
मगर, परवाह क्या? हो जा खड़ा तू तानकर उसको,
छिपी जो हड्डियों में आग-सी तलवार है साथी।

(६)

शिखर पर तू, न तेरी राह बाकी दाहिने-बायें,
खड़ी आगे दरी यह मौत-सी विकराल मुँह बाये,
कदम पीछे हटाया तो अभी ईमान जाता है,
उछल जा, कूद जा, पल में दरी यह पार है साथी।

(७)

न रुकना है तुझे झण्डा उड़ा केवल पहाड़ों पर,
विजय पानी है तुझको चाँद-सूरज पर, सितारोंपर।
वधू रहती जहाँ नरवीर की, तलवारवालों की,
जमीं वह इस जरा-से आसमाँ के पार है साथी।

(८)

भुजाओं पर मही का भार फूलों-सा उठाये जा,
कँपाये जा गगन को, इन्द्र का आसन हिलाये जा।
जहाँ में एक ही है रौशनी, वह नाम की तेरे,
जमीं को एक तेरी आग का आधार है साथी।

१९४३]

॥ समाप्त ॥